

अनजानी तिथि का चाँद

अन्ततः मैंने सोचा था कि यह कहानी नहीं लिखूँगा। यह एक ऐसी कम उम्र और समय की कहानी है जिसे इतने दिनों बाद लिखने का कोई मतलब ही नहीं था।

मैंने कहा—कम उम्र और समय। लेकिन क्या यह कहना ठीक है? आज से अठारह साल पहले, जब मेरी उम्र सिर्फ़ सत्रह वर्ष थी, क्या मेरी उस समय की साँसें आज की तरह गहरी नहीं थीं, क्या उम्र का अनुभव इतना निजी, इतना घनिष्ठ नहीं था? यदि नहीं, तो आज तक वे स्मृतियाँ मुझमें जीवित कैसे हैं?

यह कहानी लिखते समय मेरी आँखों के आगे एक चेहरा उभरने लगा है। चाँदनी से भीगी रात-सी स्निग्ध कोमल एक युवती का चेहरा और उसके साथ-साथ कुछ छितराये दृश्य। मुझे डर है कि मैं उस चेहरे के बारे में, अठारह साल पहले के उन बीते दिनों के बारे में, ठीक से कुछ कह नहीं पाऊँगा।

महाकाल के संचार-पथ पर अठारह साल सम्भवतः कोई लम्बा समय नहीं होता, किन्तु एक मनुष्य के जीवन में यह सफ़र काफ़ी लम्बा है। और मैं जिस माहौल और अनुभव की बात कह रहा हूँ, वह मेरी आज की दुनिया से काफ़ी भिन्न है। फिर भी, जब शुरू कर ही चुका हूँ, कहानी तो खत्म करनी ही होगी।

यहाँ से लगभग डेढ़ हज़ार मील दूर पखानजूर नामक एक छोटी-सी बस्ती है। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की सीमा पर स्थित यह इलाका पच्चीस साल पहले सिर्फ़ जंगल-ही-जंगल था। दण्डकारण्य प्रखण्ड की शुरुआत होने के बाद पहली बार वहाँ मनुष्य के पैर पड़े। धीरे-धीरे अनेक शरणार्थी बस्तियाँ बनीं। बने रास्ते, अस्पताल, स्कूल और वेश्यालय।

दण्डकारण्य से मेरा परिचय बहुत पुराना है। इस प्रखण्ड के पाँच हज़ार कर्मचारियों में मेरे पिता भी एक थे। ऑफ़िसर ग्रेड में पदोन्नति पाकर वे उस समय

पखानजूर आये थे जब मैंने इण्टर साइन्स के बाद रायपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला लिया था। पहले पिताजी की इच्छा कोरापुट छोड़कर इस दूर-दराज के इलाक़े में आने की नहीं थी। किन्तु माँ ने कहा, “यह तो बहुत अच्छा हुआ। रायपुर से पखानजूर करीब पड़ेगा। सरोज जब भी चाहेगा घर आ सकता है। आप डी.सी. से ‘हाँ’ कह दीजिए।”

हमारे परिवार के एक और सदस्य की भी पखानजूर जाने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी। वह थी नन्दिता—मेरी छोटी बहन। यह सच है कि वहाँ पढ़ाई के लिए उसे स्कूल तो मिल जाएगा, लेकिन स्कूल से लौटने के बाद समय काटने के लिए क्या उसे मन-मुताबिक सहेलियाँ मिलेंगी?

माँ ने गम्भीर स्वर में नन्दिता से कहा, “इस वर्ष तेरी बोर्ड की परीक्षा है। साथ-सहेली ढूँढ़ने में समय न गँवाकर किसी तरह मैट्रिक पास तो करना ही होगा। समझी?”

समझने की कोशिश न करके नन्दिता ने खामोश विद्रोह से मुँह बिचका दिया था।

लेकिन पखानजूर पहुँचकर नन्दिता ने मुझे जो पत्र लिखा था, उसमें एक तरह के अद्भुत उच्छ्वास का स्वर था। उसने लिखा था, वन-पहाड़ों से घिरी वह जगह उसे बहुत अच्छी लग रही है। बेहद खूबसूरत। विशेष रूप से खूबसूरत है जापानी विशेषज्ञों के निवास के आगे बना विशाल जल-भण्डार। मानो कोई प्राकृतिक झील हो।

उसके बाद के पत्रों में पखानजूर के बारे में बहुत-सी ख़बरें थीं, उसकी पढ़ाई-लिखाई के बारे में भी। लेकिन यह बात उसने पत्रों में क़तई नहीं लिखी थी कि वहाँ जाकर वह एक प्रभावशाली नारी-नेत्री बन गयी है।

उसका प्रमाण मुझे तब मिला, जब मैं पहली बार पखानजूर गया। अपनी कई हम-उम्र लड़कियों को साथ लेकर उसने एक सांस्कृतिक संस्था बनायी थी और उसी की कोशिश से उस बार एक नृत्य-नाटिका की तैयारी भी हो रही थी।

जंगल-भरी पृथ्वी से कुछ संघर्ष और कुछ समझौता करके जीना चाहते थे, पूर्वी बंगाल के शरणार्थी। उनके लिए काम करनेवाले कर्मचारी भी उसी संघर्ष और समन्वय में बराबरी के भागीदार थे। उन सबके सम्मिलित प्रयास से ही इस प्रखण्ड में एक नयी संस्कृति पैदा हुई है। हर वर्ष कुछ-न-कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं, तीन सौ मील दूर से कभी-कभी प्रखण्ड के मुख्य प्रशासक भी आकर इस उत्सव में शामिल होते हैं।

उस बार भी वैसा ही आयोजन चल रहा था। कॉलोनी की लड़कियों के ज़िम्मे एक नृत्य-नाटिका थी, जिसकी मुख्य संचालिका थी नन्दिता।

रायपुर से आकर घर पर क़दम रखने के बाद से ही नन्दिता अपनी हर बात

मुझसे लगातार बताती रहती। खासकर नृत्य-नाटिका के बारे में। उनका कार्यक्रम देखकर प्रत्याशित मुख्य अतिथि चीफ़ एडमिनिस्ट्रेटर निश्चित ही मुग्ध हो जाएँगे, इस बारे में उसे ज़रा भी सन्देह नहीं था।

मैं मुस्कराया, “प्रखण्ड के मुख्य प्रशासक एक आई.सी.एस. ऑफ़िसर हैं। बदक्रिस्मती से कोरापुट में पड़े हैं। वे भला तुम्हारी नृत्य-नाटिका देखकर मुग्ध होंगे?”

“मुग्ध होंगे या नहीं, तुम ही कहना। किसी दिन हमारा रिहर्सल देखने आओ, उसके बाद।”

नन्दिता का रिहर्सल देखने की मुझमें ज़रा भी इच्छा नहीं थी। लेकिन उससे सूचना मिलती कि तैयारी जोर-शोर से चल रही थी और स्टेज पर खड़ी होकर सुचरिता निश्चित ही सबको मोह लेगी।

“यह सुचरिता कौन है?”

“वही तो है श्रीराधा।”

“अब यह श्रीराधा कौन है?”

उसके बाद नन्दिता का स्वर खिन्न सुनाई दिया। उसने कहा, “तुम इतनी जल्दी सारी बातें भूल जाते हो? कल मैंने तुम्हें बताया नहीं था कि सुचरिता हमारी ‘श्रीराधा’ नृत्य-नाटिका में हीरोइन बनी है?”

उसके बाद उसने सुचरिता की प्रशंसा करते हुए बहुत-सी बातें बतायी थीं, जो मैंने ध्यान से नहीं सुनी थीं।

ठीक उसके दूसरे दिन सुचरिता से मेरी मुलाकात हो गयी। उसी के बारे में है मेरी यह कहानी।

उन दिनों हवा में माघ-फागुन की कोमल ठण्डक थी। आसमान साफ़ नीला था। उस युवती की पाप से अछूती आँखों की तरह।

लेकिन उस दिन शाम को आसमान का रंग एकदम बदल गया था। पर्वतों के सन्धि-स्थल से बे-मौसम बादल घिर आये थे और बारिश भी हुई थी, थोड़ी-बहुत हवा के साथ।

मैं एक चादर ओढ़े बैड-रूम में जॉर्ज गॉमो की वैज्ञानिक पहेलियों की किताब लिये बैठे पढ़ रहा था।

ठीक उसी समय काफ़ी घबरायी हुई-सी नन्दिता अन्दर कमरे में आयी। उसने कहा, “भैया, एक समस्या आ गयी है।”

किताब के पन्ने से मुँह उठाकर उसकी ओर देखा। मैंने चुटकी लेते हुए कहा, “क्या हुआ? क्या श्रीराधा कल रात से गुम हो गयी है?”

मुझे परदे की ओट से एक अपरिचित युवती का चेहरा दिखाई दिया। उसी की ओर अँगुली से इशारा करके नन्दिता ने कहा, “भैया, यह मेरी सहेली सुचरिता है। इसी को लेकर इस समय एक समस्या उपजी है।”

सुचरिता ने हाथ जोड़कर मुझे नमस्ते किया, मगर मैं इतना घबरा गया था कि उसे उलटकर नमस्ते तक नहीं कर पाया था।

उसके बाद नन्दिता ने मुझे अपनी परेशानी बतलायी थी।

हर रोज़ शाम को स्कूल से एक घण्टा पहले छुट्टी लेकर नन्दिता और उसकी अन्य सहेलियाँ छह बजे तक रिहर्सल करती थीं। उसके बाद सभी अपने-अपने घर चली जातीं।

पखानजूर से सात मील की दूरी पर काप्सी प्रोजेक्ट की एक और कॉलोनी है जहाँ मैडिकल और इंजीनियरिंग के दफ़्तर हैं। उस कॉलोनी में आवाजाही के लिए सिर्फ़ एक ही बस है। वह बस सुबह दस बजे पखानजूर आती है और शाम को छह बजे काप्सी लौट जाती है।

सुचरिता काप्सी अस्पताल के फ़र्मासिस्ट की बेटी है। वह रोज़ उसी बस से आती-जाती है। उसे कोई दिक्कत नहीं थी। लेकिन आज अचानक बादल-बारिश के कारण उसे क्लब में ही रुकना पड़ा और बस अपने समय पर काप्सी लौट गयी।

लेकिन इस समस्या के लिए मेरे पास कौन-सा समाधान है?

कोई गम्भीर अपराध करने की तरह सुचरिता सिर झुकाये बैठी थी और मैं बुरी तरह खुद को कोस रहा था कि श्रीराधा के बारे में इस समय मज़ाक़ न किया होता तो कम-से-कम मुझ-जैसे सत्रह वर्षीय ब्यक्तित्व के लिए अधिक सम्मानजनक होता।

मुझे चुप्पी साधे देख नन्दिता ने कहा, “भैया, क्या तुम हमें ज़रा हैल्प नहीं करोगे?”

कैसा हैल्प चाहती है नन्दिता मुझसे? क्या मैं बसवाले से जाकर कहूँ कि बस लौटा लाए, श्रीराधा जाएँगी? मैंने मन-ही-मन यह सवाल किया और अपने उस अपरिपक्व सोच के लिए पुनः क्षुब्ध हुआ।

नन्दिता ने कहा, “तुम ज़रा सुचरिता को उसके घर छोड़ आओगे?”

पहले तो मैंने चौंकते हुए सोचा कि नन्दिता ने मुझसे जो कुछ कहा वह मैंने ठीक-ठीक सुना या नहीं? इस वक़्त रात के आठ बजनेवाले थे और आसमान में घटाटोप बादल डोल रहे थे, डेमोकलीज़ की तलवार की तरह। ऐसे में क्या मैं सात मील तक चलकर जाऊँगा, वह भी एक लड़की के साथ?

नन्दिता हर तरह से सोच-विचारकर मेरे पास आयी थी। पिताजी से उचित राय लेकर। उसने कहा, “पिताजी से पूछ चुकी हूँ। इस समय उन्हें कहीं नहीं जाना। तुम उनकी मोटर साइकिल लेकर सुचरिता को छोड़ आओ ना!”

उस दिन की बातचीत मैं और अधिक नहीं बढ़ाऊँगा, पर इतना ज़रूर कहूँगा कि अनेक दुविधाओं और तर्क-वितर्क के बाद मुझे नन्दिता का अनुरोध मानना ही पड़ा।

तर्क की बनिस्बत उस दिन मुझमें दुविधा अधिक थी। परेशानी में पड़ी

सहायता माँग रही युवती के आगे सत्रह साल का एक युवक ज़्यादा तर्क-वितर्क नहीं कर सकता, यह सही है। पर मन के भीतर की दुविधा के कई कारण होते हैं।

इस वक़्त दिल्ली महानगरी के एक जाने-माने इंजीनियरिंग संस्थान के ऑफिस में बैठा मैं सोच रहा हूँ कि अठारह साल पहले के उस अनुभव को किन शब्दों में बयान करूँ। नारी-पुरुष में जो सहजात संकोच होता है, उसकी अधोगति का नाम यदि सभ्यता है, तब तो यह दिल्ली शहर ही उसकी अन्तिम सीमा है। इस सीमान्त में बैठकर मैं कैसे वर्णन करूँगा जंगलों से घिरे अर्वाचीन जनपद का वह दृश्य?

उस समय रात के लगभग आठ बजे होंगे। हवा में भीगी मिट्टी की महक और अनेक अनजान जंगली फूलों की सुरभि व्याप्त थी। आगे सुनसान रास्ता, बारिश से भीगे अँधेरे में मोटर साइकिल की रोशनी भर थी।

सुचरिता के बैठने के ढंग से मैं जान गया था कि वह पहली बार बाइक पर बैठी है। टेढ़े-मेढ़े जंगली रास्ते में वह अपना सन्तुलन ठीक से बना नहीं पा रही थी और मेरी पीठ से टिककर बैठने में हिचकिचा रही थी।

सात मील का रास्ता पार करने में अधिक समय नहीं लगा। मैं मोटर साइकिल भीतर कॉलोनी में ले गया। कुछ दूर जाने के बाद उसने धीरे से फुसफुसाकर कहा, “यह सामने हमारा मकान है।”

बिना किसी आहट के सुचरिता मोटर साइकिल से उतरी। कुछ बोले बग़ैर गेट के अन्दर चली गयी। इस अन्दाज़ में मानो इस दुनिया में मेरा कोई अस्तित्व ही न था।

मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ था। बड़ी अजीब लड़की है यह तो! देखो, धन्यवाद तक न कहकर किस तरह झटपट चली गयी!

निश्चित ही वह शर्मीली नहीं, बल्कि उसका गर्वीली होना अधिक सम्भव है। सुन्दर लड़कियाँ तो आम तौर पर गर्वीली ही होती हैं। और फिर नाच-गाना जाननेवाली सुन्दरियों में तो ज़्यादा ऐंठ होनी ही चाहिए।

दूसरे दिन, दोपहर को खाना खाते समय नन्दिता ने मुझसे कहा, “भैया, आज क्लब में हमने एक डिसीज़न लिया है।”

“कैसा डिसीज़न?”

डिसीज़न वाकई ख़तरनाक था। सुनते ही मेरे गले में कौर फँस गया। दो घूँट पानी पीने के बाद मैंने पूछा, “इसका मतलब तू यह सोच रही है कि...”

“सिर्फ़ मैं ही नहीं, क्लब के अन्य सदस्यों ने भी यही सोचा है। उस दिन गेम्स पीरियड में क्लब की एक अनौपचारिक बैठक के बाद सबने यह तय किया था कि फ़िलहाल यही करना उचित होगा। ग्यारह कलाकारों में से केवल सुचरिता ही काफ़ी से आना-जाना करती है और वही इस नृत्य-नाटिका की नायिका है। और सात दिन के बाद जिस कार्यक्रम का आयोजन होगा, उसके लिए काफ़ी समय तक रिहर्सल

करने की आवश्यकता है। यदि किसी तरह सुचरिता आठ बजे तक रुक जाती, और भैया, तुम रोज़ाना उसे मोटर साइकिल पर बिठाकर उसके घर छोड़ आते तो..."

नन्दिता का यह प्रस्ताव मेरे लिए बड़ा अजीब था। इस तरह के प्रस्ताव का मैं क्या जवाब दूँ, यह तय करने से पहले ही माँ बीच में बोल पड़ी, "इस नाच-गाने के नशे में इस साल तू मैट्रिक ज़रूर फेल होगी, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है..."

मैंने अति उत्साहपूर्वक माँ की बात का समर्थन किया होता; किन्तु मुझे मालूम था इस विशेष आयोजन के पीछे पिताजी का वरदहस्त है। वे चाहते हैं कि चीफ़ एडमिनिस्ट्रेटर यहाँ आकर इनका कार्यक्रम देखकर खुश हों और उन्हें यह पता चले कि नन्दिता पटनायक उनकी बेटी है। लेकिन मेरा भी तो अपना एक व्यक्तित्व है। अपनी स्वतन्त्र राय भी। मछली से काँटा निकालने के काम में कुछ देर चुप रहने के बाद, मैंने मन-ही-मन अपने व्यक्तित्व का ख़ाक़ा तैयार किया और गम्भीर होकर कहा, "मैं जो कुछ कहता हूँ सुन, इन सब फ़ालतू कामों के लिए मेरे पास ज़रा भी समय नहीं है।"

"तुम इसे फ़ालतू काम कह रहे हो, भैया! कला संस्कृति...ये फ़ालतू काम हैं? तुम साइन्स के छात्र हो तो क्या सारी दुनिया सिर्फ़ मैथेमैटिक्स रटती रहेगी, लेबोरेटरी में बैठी मेंढक और केंचुआ का सिर चबाती रहेगी?"

उसके बाद काफ़ी देर तक बातचीत होती रही, जिसका विवरण मैं यहाँ नहीं दूँगा। किन्तु अन्त में राज़ी न होने के पक्ष में कोई जोरदार तर्क न पाकर, मैं चुप हो गया था।

उस दिन शाम को भी सुचरिता को छोड़ने मुझे काप्सी जाना पड़ा। हालाँकि उस दिन आसमान में बादल नहीं थे, ना ही हवा में भीगी-भीगी सिहरन थी। किन्तु सात मील लम्बे अँधेरे में एक अस्पृश्य कोमलता और कई अँजुली गर्म साँसों मेरा पीछा कर रही थीं।

उस रोज़ घर लौटकर मैंने नन्दिता से कहा था, "कुछ भी बोल, तेरी यह सहेली है बहुत अशिष्ट।"

इससे पहले कि नन्दिता की आँखों में विस्मय-भरे सवाल उभरें, मैंने अपनी बात अधिक तर्कसंगत बनाते हुए कहा, "पिछले दो दिनों से इतना परेशान होकर उसके लिए ड्राइवरी कर रहा हूँ, मगर उसकी सज्जनता तो देख, सामान्य-सा धन्यवाद तक नहीं कहा उसने। कितना गर्व है उसमें!"

नन्दिता ने कहा था, "भैया, सुचरिता को तुम गर्वीली कहते हो? आखिर तुमने उसके बारे में यही राय बनायी?"

"ऐसी राय बनाये बग़ैर और कोई उपाय भी तो नहीं था। स्टेज पर खड़ी होकर धेई-धेई नाचनेवाली लड़की उतनी शर्मीली तो नहीं ही होगी।" इसे प्रमाणित करने की ज़रूरत नहीं थी।

लेकिन नन्दिता ने गम्भीर होते हुए वही कहा था। उसने कहा था, “सुचरिता बहुत शर्मीली है। किसी से अच्छी तरह बात तक नहीं कर सकती। स्टेज पर खड़ी होकर इतना सुन्दर गाती है, नाचती है, पर स्टेज से उतरते ही वह बिल्कुल बदल जाती है। बेइन्तहा शर्मीली हो जाती है।”

“वह इस बात के लिए काफ़ी चिन्तित है कि तुम उसके लिए इतनी परेशानी उठा रहे हो। उसने मुझसे कई मर्तबा कहा है कि, ‘अपने भैया से कह देना, बुरा न मानें; मेरे लिए उनका बहुत समय बर्बाद होता है। कहना, मुझे माफ़ कर दें।’”

इतना सुनने के बाद सत्रह साल के किसी युवक का चुप्पी साध लेना स्वाभाविक है।

सच ही कहूँगा, पिछले दो दिनों से मैं सुचरिता को अच्छी तरह देख भी नहीं सका था। वह चुपचाप पिलियन पर बैठ जाती, सात मील तक मेरी आँखों की ओट में रहने के बाद पुनः चुपचाप मेरे पीछे से आकर अँधेरे में डूबे मकान के बरामदे में अदृश्य हो जाती।

लेकिन आज हम दोनों ने एक-दूसरे को अच्छी तरह देखा था। उसने देखा होगा, मैं भी कितना शर्मीला हूँ।

कृष्ण पक्ष की धुँधली चाँदनी काप्सी की ओर पसरी सड़क और दोनों ओर के जंगलों में बिखरी हुई थी। थोड़ी दूर जाने के बाद एक शरणार्थी बस्ती को पार करके मोटर साइकिल का इंजन अचानक बन्द हो गया।

मैं कुछ समझ नहीं पाया। कुछ घबराया हुआ-सा बाइक खड़ा किया।

सुचरिता की आवाज़ कुछ सहमी हुई थी। उसने पूछा, “क्या हुआ?”

क्या हुआ, यह मैं भी नहीं जान पा रहा था। मुझे मोटर साइकिल सिर्फ़ चलानी-भर आती है, उसकी मशीनरी के बारे में मेरी कोई जानकारी नहीं।

कई बार इंजन स्टार्ट करने की असफल चेष्टा करने के बाद मैंने अपनी अज्ञानता स्वीकार कर ली। मीठी आवाज़ में पूछा, “अब क्या करें?”

आकाश में अनजानी तिथि का चाँद था। पेड़-पौधों पर अचिन्हे पक्षियों और पतंगों का स्वर। पीछे कुछ ही दूरी पर एक शरणार्थी बस्ती।

“कितनी दूर है काप्सी यहाँ से?” सुचरिता ने पूछा।

“लगभग तीन मील।”

“ठीक है, चलिए पैदल चलें।”

सुचरिता का आश्वासन मुझे उतना उपयुक्त नहीं लगा। उस वीरान रास्ते में वह और मैं—सिर्फ़ हम दोनों, यह सोचते ही मेरे सीने में एक तरह के अद्भुत भय और साहस की मिली-जुली सिहरन फैल गयी थी। उसके प्रभाव से मेरी निगाह उस पर कुछ देर तक टिकी रही।

पन्द्रह साल की किसी युवती का वर्णन मैं कैसे करूँ? मैं कैसे अभिव्यक्त करूँ

अपना अनुभव, उस समय मेरी उम्र थी सिर्फ़ सत्रह साल! सुचरिता लड़की है, एक जीवित शरीर—मन-आत्मा, इससे अधिक भला और क्या कहने की ज़रूरत है?

सुचरिता के बदन से शायद एक अद्भुत खुशबू निकल रही थी। उसके हर पग पर एक अद्भुत संगीत-लहरी थी, और उसकी तेज़ साँसों में था नामहीन उत्ताप का कोमल प्रवाह।

मुझे मदहोशी-सी लग रही थी। पैर कुछ लड़खड़ाने लगे थे। शायद मोटर साइकिल का वज़न मेरे पैरों को कमज़ोर कर रहा था, या फिर अन्य कोई अनास्वादित चेतना।

सुचरिता ने मेरी ओर देखा। उसने कहा, “आप थक गये होंगे। चलिए यहीं बैठते हैं कुछ देर।”

मेरे जवाब का इन्तज़ार किये बिना वह सड़क-किनारे बनी एक छोटी-सी पुलिया पर बैठ गयी।

मोटर साइकिल खड़ी करके मैंने चारों ओर देखा। पुल के नीचे बह रहे पहाड़ी सोते का कलकल स्वर मुझे साफ़-साफ़ सुनाई दे रहा था।

उसी निर्जनता में सुचरिता ने चुप्पी तोड़ते हुए पूछा, “क्या आप हमारा प्रोग्राम देखने आएँगे?”

“और पाँच दिन के बाद प्रोग्राम है। मेरी छुट्टी अभी बारह दिन और है, इसलिए प्रोग्राम न देखने का कोई कारण नज़र नहीं आता।” मुझसे इस तरह का जवाब सुनकर सुचरिता ने कहा, “मैंने सोचा था, आप नहीं आएँगे।”

ऐसा उसने क्यों सोचा था? इस सवाल का जवाब खुद उसी ने दिया। “नन्दिता कहती थी, आपको नाच-गाना बिल्कुल पसन्द नहीं।”

इस लड़की के आगे नन्दिता ने मुझे काफ़ी बदनाम कर रखा है; इसमें सन्देह नहीं। इस समय क्या कहकर अपना महत्त्व बचा सकता हूँ, ठीक से सोच नहीं पाया। कुण्ठित स्वर में बोला, “नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं। मतलब, मैं साइन्स का छात्र हूँ तो, इन सबमें इण्टरेस्ट लेने का समय ही नहीं मिल पाता।”

सुचरिता ने यह तर्क मान लिया। उसने कहा, “हाँ, आप तो पढ़ाई में काफ़ी तेज़ भी हैं, आई.एस.सी. में तो पोजीशन थी आपकी; मैंने सुना है।”

वस्तुतः इस तरह परोक्ष रूप से मैं अपनी प्रशंसा क़तई नहीं करवाना चाहता था। मैं शर्म से पानी-पानी हो गया। उस मनोभाव को छिपाने के लिए मैंने पुनः मोटर साइकिल स्टार्ट करनी चाही। और देखो क्रिस्मत भी, इंजन तुरन्त स्टार्ट हो गया। पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ।

उस दिन की बातचीत उतनी ही थी। यदि रास्ते में उस तरह की कोई अनहोनी असुविधा न हुई होती तो शायद जीवन में हम दोनों की कभी बातचीत ही न हुई होती।

मैं एक बात सोचता हूँ; शायद दो शर्मिले इन्सान बहुत जल्दी एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। उनके संकोच की सहजात बाधा सम्भवतः बड़ी आसानी से अन्तर्धान हो जाती है। वरना इस कहानी के अगले पृष्ठ किस तरह लिखे जाते?

दूसरे दिन बाइक से जाते समय सुचरिता ने आहिस्ता से अपना हाथ मेरे कन्धे पर रखा था, ठीक उतना ही जोर देकर, जितना कि सुरक्षित और स्वाभाविक यात्रा के लिए आवश्यक था। उसके मृदु स्पर्श से मेरा शरीर उसी तरह सिहर उठा, जैसे कि स्वादिष्ट कुल्फी का टुकड़ा मुँह में घुल जाने से लगता है।

उस दिन रास्ते में कोई परेशानी नहीं हुई। बाइक ठीक से चल रही थी। लेकिन मैं ठीक उसी पुल के पास ठहर गया, जहाँ कल हम कुछ देर रुके थे।

पुल के पास बाइक रोकते ही सुचरिता ने पूछा, “आज फिर क्या हो गया?” मैं खुद ही नहीं समझ पा रहा था कि बाइक मैंने क्यों और कैसे रोक दी। अपना अपराध स्वयं अस्वीकार करने-सा बोला, “कल मैं यहाँ एक चीज़ छोड़ गया था।”

“क्या चीज़?”

मैं शायद उतना हाज़िर-जवाब नहीं था। मैंने कहा, “मेरी कलम खो गयी है। सोचा, शायद यहीं कहीं गिरी होगी।” मैं तुरन्त कलम ढूँढ़ने का अभिनय करने लगा।

अपने उस मिथ्यावादी मनोभाव के लिए बाद में मुझे कभी कोई पछतावा नहीं हुआ, हालाँकि कभी-कभी उस बारे में सोचकर शरमाया जरूर हूँ।

मैं कलम ढूँढ़ने लगा और सुचरिता पुल पर बैठकर चारों ओर देखने लगी। कुछ देर बाद उसने मधुर आवाज़ में कहा, “कितनी सुन्दर है यह जगह!”

मैंने तुरन्त हामी भरते हुए कहा था, “दण्डकारण्य वाकई बहुत सुन्दर है।”

“मिली आपकी कलम?”

सुचरिता के सवाल करने के लहजे से मैं समझ गया कि वह खुद इसका उत्तर जानती है। कलम मुझे नहीं मिली।

मैंने जो जवाब दिया, उसका मतलब था : शायद कलम और कहीं छोड़ आया हूँ, “ठीक है, चिन्ता की कोई बात नहीं। कोई ख़ास क्रीमती कलम भी नहीं थी।”

मेरे इस जवाब के बाद भी सुचरिता उसी तरह पुल पर बैठी रही।

अन्यमनस्क-सी चारों ओर देखने के बाद बोली, “मैं बहुत नर्वस हो रही हूँ।”

“क्यों?” मैंने पूछा।

छोटे-बड़े हर कलाकार के मन में सम्भवतः एक सन्देह, एक आशंका रहती है। कल्पना के किसी रूप को साकार करनेवाले प्रत्येक कलाकार में ठीक से कला-प्रदर्शन न कर पाने-जैसा एक क्षुद्र-बोध होता है। सुचरिता उसका अपवाद नहीं थी।

हालाँकि इतनी बातें मैंने उस दिन नहीं सोची थीं, किन्तु जब सुचरिता ने चार

दिन बाद आनेवाली शाम के लिए उद्वेग प्रकट किया, मैंने कहा, “आप तो अच्छा पार्ट कर रही हैं, नन्दिता कह रही थी।”

उसके बाद मानो मुझे मौका मिल गया, अपनी कल की बातचीत के दौरान हुई गलती सुधारने का। मैंने कहा, “नाच-गाना मैं पसन्द नहीं करता, लेकिन सच कहूँ तो मैं ये सब ठीक से समझ नहीं पाता। ठीक जिस तरह कि आधुनिक कविताएँ, क्या होता है इन कविताओं का मतलब?”

सुचरिता ने अपनी पन्द्रह साल की उम्र के अनुभव के आधार पर मुझे समझाने की कोशिश की थी—नाच-गाना, कला-साहित्य आदि के बारे में और अन्त में उसने कहा था, “कई बातें समझ में नहीं आतीं, उन्हें केवल महसूस किया जाता है। और यही काफ़ी है। यह गणित तो है नहीं कि स्टैप-बाइ-स्टैप समझना पड़े।”

उस दिन नहीं, उसके दूसरे दिन उसने मुझसे पूछा, “आपने गीतांजलि पढ़ी है?”

मैंने अस्वीकार करते हुए कहा था, “मुझे बांग्ला भाषा नहीं आती।”

“मैं भी बांग्ला नहीं जानती। मेरे पास अँग्रेज़ी में है गीतांजलि। उसकी कई बातें समझ नहीं आतीं, किन्तु बहुत अच्छी लगती हैं पढ़ने में। ऐसा लगता है जैसे कि यह सारी पृथ्वी बहुत अपनी है। सारे दुखों और सुखों की! मैं कभी दूँगी वह पुस्तक आपको, पढ़कर देखिएगा।”

अब मुझे स्वीकारने में शर्म नहीं है कि तब मेरे मन में सुचरिता के लिए एक तरह की कमज़ोरी आ गयी थी। मन-ही-मन सोच रहा था कि मैं जिस लड़की से शादी करूँगा वह भी ठीक इसी सुचरिता-जैसी होनी चाहिए। उसके बाद सोचा था यदि वह लड़की स्वयं सुचरिता ही हो तो क्या हानि है?

लेकिन क्या यह सम्भव है?

फिर मन-ही-मन सोचा था, क्यों नहीं है सम्भव? तरह-तरह के तर्क उठ रहे थे मन में। हालाँकि अब उनका कोई अर्थ नहीं।

तीन दिन बाद सांस्कृतिक कार्यक्रम हुआ था। मुख्य प्रशासक आये थे। मैंने मुक्ताकाश थियेटर के एक कोने में खड़े होकर सुचरिता को देखा था। उसके बाद बाक़ी बची रात मैं सो नहीं पाया। अँधेरे में उठता-बैठता, खिड़की के पास जाकर खड़ा रहता। देखता नीले आकाश को, चाँदनी से नहायी पृथ्वी को, और अभिसारिका श्रीराधा के रूप में अभिनय करती सुचरिता को।

मेरे मन में कई सवाल उठे थे। क्यों है पृथ्वी इतनी सुन्दर? क्यों होती है फूलों में खुशबू? क्यों बादल और तारों के अन्तराल में सपनों की आकाश-गंगा फैल जाती है दूर तक, क्यों मनुष्य के शरीर-मन-आत्मा के द्वार-रहित मन्दिर में अकारण ही गूँजने लगता है एक विचित्र संगीत? क्यों?

उसके बाद कहा जाए तो सुचरिता से मेरी मुलाकात नहीं हुई। होने की

आवश्यकता भी नहीं थी। उनकी नृत्य-नाटिका सफलतापूर्वक मंचित हुई थी और उसके बाद नन्दिता अपने क्लब के लिए एक लाइब्रेरी बनाने में जुट गयी थी।

अभी-अभी मेरा यह कहना कि सुचरिता से फिर मेरी मुलाकात नहीं हुई थी, सही नहीं है। उससे सिर्फ़ और एक बार मामूली-सी मुलाकात हुई थी—महज़ एक मिनट के लिए। जिस दिन मुझे रायपुर लौटना था उसके दो दिन पहले वह नन्दिता के साथ हमारे घर आयी थी। मौक़ा मिलते ही वह मेरे पास आयी और बिना भूमिका के उसने मेरी ओर बढ़ा दी थी रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि। उसने कहा था, “आज रात यह पुस्तक पढ़िएगा। आज रात ज़रूर।”

शायद उसके बाद उसने और भी कुछ कहा होता, लेकिन नन्दिता के आ जाने की वजह से वे दोनों लाइब्रेरी चली गयीं।

हाथ में गीतांजलि लिये मैं काफ़ी देर तक अन्यमनस्क रहा। सुचरिता के चेहरे पर आज कोई और भाषा थी, कोई और चमक।

मुझे लगा, शायद सुचरिता पृथ्वी की सबसे सुन्दर लड़की है। सबसे अधिक आकर्षक भी।

मैंने वह पुस्तक ख़ूब सहेजकर अपने बक्से में रख ली।

दो दिन बाद मैं रायपुर चला आया। वहाँ का अलग माहौल—अलग दिनचर्या। तमाम व्यस्तताओं के बीच भी रह-रहकर मुझे सुचरिता का चेहरा याद आता। ठहात् उदास हो उठता मेरा निस्संग हृदय।

गीतांजलि पुस्तक के बारे में मैं भूल चुका था। एक सेमेस्टर की परीक्षा ख़त्म होने के बाद एक दिन अचानक उसकी याद आयी। बक्से से निकालकर वह पुस्तक मैं हाथ में लिये हुए था। मुझे लगा, मेरे हाथ में मुड़ी-भर कागज़ नहीं, बल्कि मुड़ी-भर साँसें हैं, मुड़ी-भर अशरीरी स्पन्दन है।

पुस्तक के पृष्ठ उलटते-उलटते ठक् से एक छोटा-सा कागज़ उससे गिरा। मैंने आश्चर्य के साथ उस कागज़ को उठाया। देखा। वह तीन पंक्तियों की एक चिट्ठी थी। वह चिट्ठी किसी को सम्बोधित नहीं थी, उसमें केवल एक नाम लिखा था : सुचरिता।

चिट्ठी में लिखा था, “आपसे एक ख़ास बात कहनी है। कल शाम पाँच बजे जापानी गैस्ट हाउस के पासवाली झील पर आइएगा। मैं इन्तज़ार करूँगी। इति। सुचरिता।”

मैंने उसे बार-बार पढ़ा। किसको लिखी गयी है यह चिट्ठी? मुझे? क्या यह चिट्ठी सुचरिता ने मुझे लिखी थी?

कुछ देर सोचने के बाद मेरे मन में सन्देह नहीं रह गया था। मुझे उसकी वह बात याद आयी : आज रात यह पुस्तक पढ़िएगा। आज रात ज़रूर।

लेकिन मैंने उस रात वह पुस्तक नहीं खोली थी, इसलिए चिट्ठी देखने का मौक़ा

ही नहीं मिला। उसके दो दिन बाद मैं रायपुर चला गया। सुचरिता का वह छोटा-सा अनुरोध पूरा नहीं कर सका।

वह निर्धारित 'कल शाम' न जाने कब से महाकाल के अँधेरे में समा गयी है। आज से सत्रह साल पहले की एक कोमल फागुनी सन्ध्या एक सिकुड़ी झील के किनारे।

किन्तु उस दिन मुझसे क्या कहना चाहती थी सुचरिता? कौन-सी खास बात? या कौन-सा तुच्छ वक्तव्य?

मैं नहीं जानता। शायद इस जीवन में न भी जान सकूँ। उसके बाद सुचरिता से मेरी मुलाकात कभी नहीं हुई, शायद भविष्य में भी कभी न हो। और यदि मुलाकात हुई भी तो क्या वह मुझसे बताएगी, जो कुछ वह बताना चाहती थी आज से अठारह साल पहले—जब उसकी उम्र थी पन्द्रह साल, और मेरी सत्रह से कुछ अधिक।

कभी-कभी मैं मन-ही-मन एक दृश्य-चित्र बनाने की कोशिश करता हूँ : पेड़-पौधों से घिरे झील के किनारे अकेली लड़की, चुपचाप खड़ी है, किसी का बेसब्री से इन्तज़ार करते हुए। पीछे की ओर फागुन की कोमल शाम। आँखों के आगे अन्तहीन नीला आकाश।

कितनी रात गये, दिल में कितनी निराशा भरकर पन्द्रह साल की युवती उस दिन घर लौटी होगी? कैसे लौटी होगी वह अकेली सात मील लम्बे रास्ते से अँधेरी रात में? क्या सोचती हुई?

कभी-कभी मुझे यह बात याद आती है। मेरे चारों ओर की पृथ्वी विषाद ऋतु से घिर जाती है।

किन्तु सुचरिता, यदि तुम अब भी इस तुच्छ, असार पृथ्वी के किसी अनजाने पते पर जीवित हो तो कृपा करके मायूस मत होना। तुम्हीं ने तो कहा था—सारी बातें समझने की ज़रूरत नहीं, एहसास करना ही काफ़ी है। उस दिन मैं जो तुम्हारी खास बात नहीं सुन पाया, उसके लिए किसी को अफ़सोस करने की कोई ज़रूरत नहीं है।

क्या मैंने एहसास नहीं किया है, उस दिन तुम मुझसे जो भी कुछ कहना चाहती थीं?

सुदामा का पता

उस आदमी ने झुककर मेरे पैर छुए और मुझे प्रणाम किया।

कोई मेरे पैर छूकर मुझे प्रणाम करता है तो मुझे बेहद खुशी होती है। दूसरों से मेरा स्थान ऊँचा है, मेरे पैर की धूल बहुत-से लोगों के सिर में लगने के लिए है, यह सोचकर मुझे बहुत अच्छा लगता है।

उस आदमी ने झुककर मेरे पैर की धूल ली और मुस्कराते हुए बोला, “सर! मैं सुदामा हूँ।”

यह सुदामा नामक व्यक्ति कौन है, मैं बिल्कुल नहीं जानता। दुनिया में ऐसे कई सुदामा-कुदामा हैं, जिन्हें मैंने कभी याद रखने की कोशिश नहीं की, लेकिन उन्होंने मुझे याद रखा होगा, इसमें भला आश्चर्य होने-जैसी कौन-सी बात है।

सुदामा समझ गया कि मैं उसे पहचान नहीं पा रहा हूँ। इसलिए बायें हाथ से कनपटी खुजलाते हुए कुछ संशोधन करने के लहजे में बोला, “सर, मैं सुदामा हूँ—दमयन्ती का पति।”

बड़ी विचित्र बात है। जब मैं सुदामा को नहीं पहचानता, तो फिर दमयन्ती के पति को कैसे पहचानूँ? पर यह बात तो मैं उससे कह नहीं सकता (क्योंकि मैं एक ज़िम्मेवार व्यक्ति हूँ)। इसलिए मैंने जमुहाई लेते हुए कहा, “अरे हाँ। सब ठीक-ठाक तो है?”

किन्तु यह सुदामा नामक व्यक्ति मुझसे क्या आशा करता था? वह आशा करता था कि दमयन्ती का नाम सुनते ही मैं—शायद मैंने यह नाम अपनी ज़िन्दगी में पहली बार सुना था—कुर्सी से उठकर उसके पैरों में झुककर धूल लूँगा? वरना वह इतना निराश क्यों हुआ?

सुदामा नामक व्यक्ति दिखने में जैसा था, इस तरह का आचरण करना मेरे

लिए क़तरई सम्भव नहीं था। वह बिल्कुल दरिद्र देहाती था। उसने जिस तरह के कपड़े पहन रखे थे, इस कलकत्ता शहर में उसे देखकर लोग उसकी खिल्ली उड़ाएँगे। विशेषकर न्यू अलीपुर के इस अभिजातपूर्ण इलाके में मेरे नये दुमज़िले मकान में वह खीझ पैदा करनेवाला दृश्य था।

“सब ठीक-ठाक तो है” मेरा यह पूछना ही सुदामा से कुछ कहलवाने के लिए काफ़ी था। अपने चिपके हुए गालों पर रुआँसे, मुस्कराहट-सा भाव लाते हुए वह कहने लगा—

“साहब, ठीक-ठाक भला क्या होगा? इस गरीब के जीवन में भला-बुरा सब एक-जैसा है। बारिश हुई तो साल-भर खा-पीकर जी लेते हैं। न हुई तो उपासे पड़े रहते हैं। यही तो जीवन है। इस जीवन के बारे में भला और क्या कहूँ...”

उस आदमी की उन बातों से ही उसका परिचय मिल गया था। वह किसान था। खींच-तानकर महज़ साल-भर गुज़ारा करने लायक ज़मीन है। उसे जीवन से कोई आशा नहीं, उज्ज्वल भविष्य के लिए कल्पना भी नहीं।

देश की भी यही समस्या है। लोगों में कोई आशा नहीं, आकांक्षा नहीं। काम में जुटकर भाग्य पर निर्भर हो करके ये लोग निश्चिन्त हो जाते हैं। तो फिर इस जाति के इतिहास में क्रान्ति आएगी कैसे? क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए क्रान्तिकारी विचारधारा ही चाहिए। प्रगतिशील दृष्टिकोण चाहिए। वरना...

यह सब सोचने के बाद मैंने फिर जमुहाई ली। उस ब्यक्ति की मौजूदगी की ज़रा भी आवश्यकता नहीं, यह सोचकर मैंने उससे एक और निर्व्यक्तिक सवाल किया, “तो फिर और क्या हालचाल है?”

“हालचाल और क्या होगा। कुछ नहीं। दमयन्ती ठीक है। चेमा, पुट्टू, धड़ी, मानी—आपके भाँजे-भाँजी सब मज़े में हैं। सिर्फ़ आपके दर्शन के लिए यहाँ चला आया...”

आने के साफ़-साफ़ दो कारण होते हैं। पहला कारण कुछ आर्थिक सहायता। एक सुविख्यात कम्पनी में मैं एक बड़ा इंजीनियर हूँ। कुछ आर्थिक दान कर दूँगा तो मेरा भण्डार ख़ाली नहीं हो जाएगा। और दूसरा कारण किसी तरह की नौकरी की आशा। कलकत्ते में कम्पनी की नौकरी जितनी चाहो मिल जाएगी—दूर-दराज़ के गाँवों में आज भी लोगों का यह विश्वास है।

लेकिन काम के अन्धे ये भाग्यवादी यह नहीं जानते कि दुनिया में लड़कर जीना होता है। जिस तरह मैंने लड़ाई की है और जी रहा हूँ, ख़ूब अच्छी तरह जी रहा हूँ। बड़ी साधना करके एक-एक सीढ़ी चढ़ी है मैंने और अब मैं स्थापित हो चुका हूँ। रसेल इण्डिया कम्पनी में मैं डिप्टी जनरल मैनेजर हूँ। अर्थात् संस्था की सबसे ऊँची दूसरी सीढ़ी पर मैं खड़ा हूँ।

सुदामा नामक वह आदमी अपने एक हाथ से कनपटी खुजलाते हुए मेरे

बैठक-खाने पर अपनी निगाह दौड़ा रहा था। देखता जाता और मुग्ध होता जाता। क्रीमती टी.वी. सेट, स्टीरिओ सिस्टम, सोफ़ा, कार्पेट और अन्य सभी विलासिता की चीज़ें—जो दूसरों के लिए विलासिता है, पर मेरे लिए निहायत आवश्यक है। सुदामा ने मुग्ध नज़रों से उन्हें देखा और उसके बाद मेरी ओर देखकर सन्दिग्ध स्वर में पूछा, “और आप? आप तो मजे में हैं ना—क्यों साहब...?”

मेरा जवाब सुनने से पहले उसने मेरे सामने के सेण्टर टेबल पर जो-जो-कुछ देखा उसे देखकर सम्भवतः चौंक उठा। यह स्वाभाविक ही था। कोई भी देहाती उसे देखकर चौंक उठता।

किन्तु मुझे वह दृश्य अच्छा लगा। मैंने धीरे-धीरे अपना हाथ बढ़ाकर गिलास उठा लिया और एक ही घूँट में उसे खाली कर दिया। उसके बाद बर्फ़ और लैमनेड मिलाकर मैंने और एक गिलास ड्रिंक तैयार किया। हाँ, इस समय मैं ‘जिन’ पीना अधिक पसन्द करता हूँ।

इससे बढ़कर और मजे की बात क्या हो सकती है कि यह दृश्य देखकर उस देहाती की बोलती बन्द हो गयी। उनके मुताबिक यह पाप है, नर-हत्या की तरह जघन्य। कभी मैं भी यही सोचा करता था। आज से बीस साल पहले, रसेल इण्डिया में इंजीनियर एप्रेण्टिस के रूप में कार्यभार सँभालते समय, मेरी भी यही धारणा थी। कुसंस्कार किसमें नहीं होता? मिस्टर जुत्शी बड़े ही स्पष्टवादी थे। मेरे इस ‘इन्हिबिशन’ को तोड़ने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा था।

यह सुदामा नामक व्यक्ति गाँव लौटकर जो कुछ कहेगा, मैं अच्छी तरह जानता हूँ, “सब-कुछ ठीक है। बहुत पैसा है। सब-कुछ ठीक होने पर भी एक बात है...”

“क्या बात है?”—सुननेवाले पूछने लगेंगे।

—सब-कुछ ठीक है। लेकिन चरित्र खराब हो गया है।

—चरित्र खराब हो गया है?

—मैं भला और क्या कह रहा हूँ? जब मैं वहाँ पहुँचा, वे एक कमरे में अकेले बैठे थे।

—साथ में एक महिला...?

—नहीं, नहीं—महिला के साथ नहीं। एक कमरे में अकेले बैठे वे शराब पी रहे थे। उँह कितनी बदबू थी उस शराब में—मेरा तो सिर चकरा गया।

हालाँकि, मेरे ख्याल से, जिनमें एक मदमस्त सुगन्ध होती है जो मुझमें जान डाल देती है।

लेकिन मैं किसी तरह की निन्दा से नहीं डरता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि इसके लिए बाहर से लोग मेरी कितनी ही निन्दा क्यों न करें, पर मन-ही-मन बेहद तारीफ़ करते हैं। यदि इस अधम व्यक्ति की कृपा से उन सबों ने मुझे किसी महिला के साथ पाये जाने के बारे में सुना होता, तो अधिक खुश हुए होते। ऐसे नाममात्र के कलंक वास्तव में गौरव के तिलक की तरह होते हैं। मुझे याद है, अपने छात्र-जीवन में हम

कुछ मित्र इकट्ठे बैठकर, किसी विशिष्ट गणमान्य व्यक्ति के चरित्र की भर्त्सना किया करते थे। उस नुक्ता-चीनी में बड़ा मज़ा आता—अनेक वर्जित कामनाओं का सुख। एक बार मैंने हिसाब लगाकर देखा, वह गणमान्य व्यक्ति मेरे रिश्तेदार लगेंगे। एक बार रात को काफी देर तक उनके चरित्र का संहार करके, पशु, नास्तिक, बर्बर इत्यादि विशेषणों से विभूषित करने के बाद जब हम सभी एक-दूसरे से विदा लेकर जाने लगे तब मैंने कहा, “जानते हो, वे मेरे क्या लगेंगे? वे मेरी माँ की ममेरी बेटी की बहन की देवरानी की चचेरी बहन के...इत्यादि।”

“वाक़ई! क्या वाक़ई?” मेरे दोस्तों के चेहरों पर रौनक फैल गयी। “तूने अब तक क्यों नहीं बताया...अगले महीने हमारे क्लब की ओर से एक सांस्कृतिक समारोह का आयोजन किया जा रहा है। यदि तूने उनसे कहा होता तो क्या मुख्य वक्ता के रूप में आकर क्लब में भाग नहीं लेते?”

“मैंने कहा था। किन्तु उनकी तबीयत ठीक न होने के कारण वे राज़ी नहीं हुए। इसका मतलब, उन्होंने मेरा आग्रह स्वीकार नहीं किया।”...

“दमयन्ती आपके बारे में हमेशा कहती रहती है। आप इतने अच्छे ओहदे पर हैं। आपकी तरक्की पर उसे बहुत गर्व है। हम सभी बहुत खुश हैं।”—यह कहते हुए सुदामा का चेहरा देखकर इस बारे में मैंने एक बात का अनुमान लगा लिया। इन दो-चार प्रशंसा-भरे शब्दों के बाद वह असली बात शुरू कर देगा। मदद के लिए कुछ दान या किसी तरह की नौकरी। मैं इतना भूख नहीं हूँ। इसलिए खूब गम्भीर होकर उसकी ओर देखता रहा।

“हावड़ा स्टेशन से यहाँ तक पहुँचना टेढ़ी खीर है, भाई साहब—और हमारी तरह देहाती आदमी का भटक जाना तो आम बात है।”

शायद इस आदमी ने मुझे भाई साहब कहकर सम्बोधित किया? उससे पहले अपने बेटे-बेटियों को मेरा भांजा-भांजी बना चुका था। इस तरह देखा जाए तो मैं उसका क्या लगूंगा? साला? दमयन्ती—उसकी पत्नी—का भाई। आखिर यह दमयन्ती है कौन? अपनी बीस साल की याद में यह नाम मैं नहीं तलाश सका।

मुझे यह नाम तलाशने में जरूर दिक्कत हो रही थी, लेकिन सुदामा नामक यह व्यक्ति मुझे ढूँढ़ता हुआ सही आया है। उसके कन्धे पर एक थैला लटक रहा है। इसका मतलब यह एकाध दिन यहाँ मेहमानी करने के इरादे से आया है। एक दिन रहने के बाद मदद अथवा नौकरी की बात उठेगी। सही मौक़ा देखकर।

मेरा रसोइया अति विनयपूर्वक कमरे में दाखिल हुआ। अपराधी द्वारा ग़लती स्वीकार करने के लहज़े में बोला, “साहब खाना बन चुका है। हुकम हो तो...”

अपनी बात पूरी करने से पहले ही वह अपराधी की तरह दया-भरी निगाह से मेरी ओर देखने लगा।

मैंने कहा, “खाना तो बना चुके हो। लेकिन मेरे एक गेस्ट...”

“नहीं साहब। मैंने तो अभी-अभी खाया है। मुझे ज़रा-सी भी भूख नहीं है,

साहब,” सुदामा नामक व्यक्ति ने आत्मविभोर होते हुए कहा।

मैंने उसकी बात अनसुनी करते हुए कहा, “मेरे एक गेस्ट आज दिल्ली से आनेवाले थे, किन्तु अभी तक तो नहीं पहुँचे। शायद सुबह की फ्लाइट से नहीं आ सके। खैर चलो, तुम सिर्फ मेरे ही लिए परोसो।”

लेकिन मैं उतना निर्दयी नहीं था। खाने के बाद मैंने रसोइये से कहा, “गाँव से कोई आदमी आया है। उसे भी थोड़ा-बहुत खाना दे दो।”

बाहर चबूतरे पर बैठकर सुदामा मेरे बगीचे की शोभा देख रहा था। मेरा यह प्रस्ताव सुनकर इस बार उसने कोई आपत्ति नहीं की। राजा बेटे की तरह खाने जा बैठा! बगलवाले कमरे से मैंने सुना, रसोइये के साथ वह अपनी गोटें बिछाने की कोशिश कर रहा है। वह रसोइये के साथ खूब घुल-मिलकर बातें कर रहा था। गाँव की समस्याओं, मौसम, देश के हालात, और बाज़ार की क्रीमतों के बीच उनका खाना खत्म हुआ।

उस दिन शाम को उसने पुनः मेरे कमरे में प्रवेश करने का दुस्साहस किया था। दुस्साहस हमेशा क्षणिक होता है। इसलिए अन्दर घुसते ही उसने शुरू कर दिया, “भाई साहब, मुझे आपसे एक काम था।”

“काम? हाँ बोलो?” मैंने विशेष आग्रह दिखलाना उचित नहीं समझा। काम के बारे में कुछ कहने से पहले सुदामा ने कुछ निराशा-भरे स्वर में पूछा, “क्या आप मुझे पहचान नहीं पा रहे हैं?”

इस बार मैं स्पष्टवादी होना चाहता था। स्पष्टवादी होना अच्छी बात है। मैंने कहा, “देखो, बीस साल पहले की बात है। सारी बातें याद रखना तो सम्भव नहीं। मैं सचमुच तुम्हें ठीक से पहचान नहीं पा रहा हूँ।”

“मुझे आप पहचान नहीं पाये, इसका मुझे कोई अफ़सोस नहीं, साहब! आपसे मेरी मुलाकात भी तो अधिक नहीं हुई है। लेकिन दमयन्ती—दमयन्ती को आप याद नहीं कर पा रहे? आप उसे पूरी तरह भूल चुके हैं?”

यह सवाल सुनकर मुझे उस आदमी पर बहुत दया आयी। मैंने पुनः कोशिश की—दमयन्ती नामक अपनी किसी बहन को याद करने की। मेरी एक ही सगी बहन है, किन्तु मुँहबोली बहनें असंख्य हैं। असली समस्या तो यही है।

वह आदमी मुझे याद दिलाने में मदद करते हुए बोला, “बचपन में दिन-भर साथ-साथ रहते थे, आप और दमयन्ती। साथ-साथ पूजा करते। खेलते। लड़ते-झगड़ते भी। एक बार गुस्से में आपने दमयन्ती के सिर पर लोहे की छड़ से मार भी दिया था। उसके सिर से काफ़ी खून निकला था, वह निशान आज तक उसके सिर में है। उस निशान को देखते ही मुझे आपकी याद आ जाती है। और आपका भांजा घड़ी देखने में बिल्कुल आप-जैसा है। पढ़ाई में भी ठीक आप ही की तरह तेज़ है—प्राइमरी परीक्षा में इस वर्ष उसे छात्रवृत्ति भी मिली है।”

इतने पर भी, मैं दमयन्ती को याद नहीं कर सका। मारपीट करके खून

निकालने में मैं क़तई नहीं हिचकिचाता था। यह तो मेरे नियमित मनोरंजन के अन्तर्गत था।

“आप दमयन्ती को भूल गये हैं।” निराशा-भरी ग्लानि से मानो वह व्यक्ति टूट गया। “लेकिन वह आपको पल-भर के लिए भी नहीं भुला पायी है। हर वक्रत धीरेन भाई, धीरेन भाई करती रहती है। और आप...”

सुदामा कुछ देर चुप रहा। उसके बाद पुनः बोलने लगा—“मैं एक काम से आया था, भाई साहब। मेरे पीछे पड़-पड़कर उसने मुझे यहाँ भेजा है। सिर्फ़ उसी का मुँह देखकर मैं घर से निकला हूँ। इसके अलावा मैं भी तो ज्योतिष शास्त्र के बारे में थोड़ा-बहुत जानता हूँ। इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ...”

सुदामा की इतनी बात से मैं कुछ साफ़-साफ़ समझ नहीं पाया। अपनी ओर से कुछ न कहते हुए मैं उसकी अगली बात सुनने का इन्तज़ार करने लगा।

“पता नहीं आजकल आपको पसन्द है या नहीं, लेकिन दमयन्ती को सारी बातें याद हैं। आपको आरिसा पीठा (गुड़ के पुए) बहुत अच्छे लगते हैं, यह बात वह मुझसे अक़सर कहती है। आते समय उसने बड़े जतन से थोड़े ‘आरिसा पीठा’ बनाकर भेजे हैं।”

सुदामा ने झोले से एक पत्तल की पोटली निकालकर सेण्टर टेबल पर रख दी। उसी टेबल पर जहाँ हर वक्रत एक रम की बोटल रखी होती थी। दिन में लंच से पहले मुझे ‘जिन’ अच्छा लगता है, लेकिन डिनर से पहले मुझे रम के सिवाय और कुछ पसन्द नहीं।

“और उसके साथ थोड़े से खुंकू भी लाया हूँ।”

“खुंकू?”

यह ‘खुंकू’ नाम मुझे बड़ा अटपटा-सा लगा। यह खुंकू क्या है? मेरी याददाश्त इतनी कमज़ोर नहीं है। मैं समझ गया कि वह क्या चीज़ है। ग़रीबों का एक प्रिय खाद्य है—खुंकू। ताड़ के फल में सफ़ेद रंग का एक गूदेदार पदार्थ होता है। न उसमें कोई स्वाद होता है, न खुशबू। उसी का नाम खुंकू है। बचपन में शायद खाया होगा।

मुझे मन-ही-मन हँसी आ रही थी। उड़ीसा के सुदूर गाँव से कोई आरिसा पीठा और खुंकू लेकर कलकत्ता आया है—बीस साल के अतीत के सहारे! इसलिए ज़रा चुटकी लेते हुए मैंने पूछा, “और क्या लाये हो? पुड़ेई फल या मांडिया पीठा?”

इस बार सुदामा कुछ गम्भीर हो गया था। उसने कहा, “आप मज़ाक़ करेंगे, मैं जानता हूँ; लेकिन क्या स्नेह और श्रद्धा की क्रीमत पैसों से लगायी जा सकती है? मैंने यहाँ आकर शलती की है, किन्तु इसके लिए आपसे अभिमान करने में कोई फ़ायदा नहीं है। मान में आप मुझसे बड़े होने पर भी उम्र में मुझसे छोटे हैं। आपसे अभिमान करना मेरे लिए ठीक नहीं होगा,...आया ही हूँ, तो ये चीज़ें दे ही जाऊँ। आप इन्हें रखिए या फेंक दीजिए, इससे मुझे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। आप भगवान पर विश्वास करते हैं? विश्वास करें या न करें—वह आपकी मर्ज़ी है। किन्तु मैं विश्वास

करता हूँ। मैं फलित शास्त्र जानता हूँ। केवल इसीलिए मैं इतनी दूर दौड़ा आया हूँ।”

उसके बाद वह आदमी मुझे जो कुछ समझाने लगा, वह मेरी बुद्धि से परे था। “वृश्चिक राशि, अनुराधा नक्षत्र में रवि की महादशा है। बृहस्पति और केतू भी अशुभ स्थान पर जमे हुए हैं। इन सबों का हिसाब लगाकर सुदामा ने मुझे समझाया, फ़िलहाल मेरे ग्रह खराब चल रहे हैं। आगामी कुछ महीनों तक मुझे कठिन समय से होकर गुज़रना पड़ेगा। इसके लिए दमयन्ती काफ़ी चिन्तित थी। और इसीलिए...”

इस बार सुदामा ने अपना झोला टटोलकर एक चीज़ बाहर निकाली। क्या थी, मैं पहचान नहीं सका। ज़रा ग़ौर से देखने पर पता चला कि वह ताबीज़ थी।

यह ताबीज़ दमयन्ती ने भेजी है। पड़ोस के गाँव में एक साक्षात् देवी हैं—लक्ष्मेश्वरी देवी। उनके सेवक गौरांगदास बड़े ही धर्मात्मा पुरुष हैं। उन्हीं के हाथों से बनी है यह ताबीज़। रखना चाहें तो रख लीजिएगा, नहीं तो कूड़े के ढेर में फेंक दीजिएगा।...किन्तु दमयन्ती ने बड़ी श्रद्धा से दी है, यह ताबीज़। पिछले दस-पन्द्रह दिनों से मेरे पीछे पड़-पड़कर उसने मुझे यहाँ भेजा है। लेकिन मैं सारी बातें समझता हूँ—अनुमान लगाना तो कोई मुश्किल नहीं। इसलिए नहीं आना चाहता था। आकर देखा, मैंने कोई ग़लत अनुमान नहीं लगाया था।”...

उस आदमी ने झुककर ताबीज़ टेबल पर रख दी। उसी टेबल पर वह पत्तल की पोटली, रम की बोतल और काँच का गिलास रखा हुआ था।

“...कल सुबह नहाने के बाद सूर्य को नमस्कार करके यह ताबीज़ दाहिने हाथ में बाँध लीजिएगा। सूर्य नमस्कार जानते हैं आप? ठीक है—कल सुबह मैं ‘ट्रेन’ में कर दूँगा। आप नहाने के बाद सिर्फ़ नमस्कार कर लीजिएगा।”

वह आदमी मेरे करीब आया, और उसने झुककर मेरे पैर छुए। सिर पर धूल लगाते हुए बोला, “मैं जा रहा हूँ। ट्रेन नौ बजे छूटेगी। अभी से न गया तो ट्रेन नहीं पकड़ पाऊँगा। रास्ते की भीड़...”

सुदामा ने सँभालकर अपना थैला कन्धे पर लटका लिया, किन्तु कमरे से बाहर निकलने के पहले कुछ अविश्वास-भरे स्वर में अपने-आप से पूछता-सा बोला, “वाक़ई आप दमयन्ती को भूल गये? दमू—आपकी इतनी चहेती दमू—उसे आप...”

उस आदमी के कमरे से निकल जाने के बाद मेरे अँधेरे मन में मानो एकाएक बिजली कौंध उठी। दमू! क्या नाम कहा था उसने अन्त में? दमू—आपकी चहेती बहन, दमू?

शराब के असर से मैं कभी अपना सन्तुलन नहीं खोता, किन्तु इस वक़्त उठने की कोशिश करने पर ऐसा महसूस हुआ कि मेरे पैर जकड़ गये हैं। अँधेरे में रास्ता टटोलते हुए चलने की तरह डगमगाते हुए बाहर तक गया।

लेकिन बाहर सुदामा—दमू का पति नहीं था। वह कहीं जा चुका था। घर के चौकीदार, बगीचे के माली और रसोई घर के रसोइये, सबसे पूछा, “जाते वक़्त किसी ने उसे नहीं देखा।”

मैं अपने कमरे में लौट आया और टेबल से ताबीज़ उठाकर देखने लगा। पत्तल की पोटली में बँधे आरिसा पीठा और खुंकू भी देखा।

उस घटना के तीन दिन बाद मुझे एक चिट्ठी मिली थी। चिट्ठी में भेजनेवाले का पता नहीं था। सिर्फ अन्त में लिखा था, “तुम्हारी अभागिन बहन दमयन्ती”। मैं तुरन्त चिट्ठी पढ़ने लगा। उस पत्र में न ही कोई तारतम्य था और न ही वह पूरी थी। दमयन्ती इतनी पढ़ी-लिखी नहीं है कि बैठे-बैठे सोच-सोचकर अच्छी तरह चिट्ठी लिखती। उसने लिखा था—

...तुम्हारे पास दो दिन रहने के बाद यहाँ लौटकर ‘ये’ तुम्हारी इतनी बातें बता रहे हैं, जिसका कोई अन्त नहीं। तुम ख़ूब सुख से हो, शान्ति से हो, यह जानकर मुझे बहुत खुशी हुई। तुमने उनकी कितनी आवभगत की। मेरे भेजे हुए आरिसा और खुंकू तुमने कितने प्यार से खाये, सुनकर खुशी से मेरी आँखें बहने लगीं। अपनी ग़रीब, अभागिन बहन को तुम कितना चाहते हो, यदि उनके मुँह से न सुनी होती तो शायद विश्वास न कर पाती। धड़ी पढ़ने में तेज़ है, सुनकर तुम कितना खुश हुए थे। किताबें खरीदने के लिए तुमने जो पचास रुपये दिये थे, बहुत अफ़सोस है भैया कि वे पैसे उन्होंने कहीं खो दिये। इतने सीधे हैं कि क्या बताऊँ। पैसे खोने का उन्हें बेहद दुःख है। घर पहुँचने पर उनका चेहरा देखकर बहुत दुःख हुआ। पचास रुपयों के लिए नहीं भैया, तुम्हारे स्नेह का दान धड़ी नहीं पा सका, इसका मुझे भी दुःख हुआ। और उस ताबीज़ की बात भैया, वह ताबीज़ पाकर तुम्हारी आँखें भर आयीं—यह सुनकर मुझे भी बड़ी तकलीफ़ हुई। किन्तु उस तकलीफ़ में बड़ा आनन्द था।।।

...तुम उन्हें और दो दिन रहने को मजबूर कर रहे थे, लेकिन तुमने तो देखा होगा, वे ज़रा शर्मिले हैं। इसके अलावा यहाँ गाँव में इतनी दिक्कतें हैं। (यहाँ दमयन्ती ने शायद एकाध असुविधा के बारे में लिखा भी था, किन्तु उसके बाद अच्छी तरह काट दिया है। बिल्कुल पढ़ा नहीं जा रहा था।) इसीलिए वे लौट आये। तुम नाराज़ मत होना—तुम्हें मेरी क्रसम। फिर कभी सुविधा देखकर ये ज़रूर जाएँगे। परन्तु मैं यह घर-जंजाल छोड़कर भला कहाँ जा सकती हूँ? तुम सुखी रहो, सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते रहो। तुम और बड़े बनो। तुम्हारी तरह विशाल जिसका हृदय हो उस पर हमेशा भगवान का आशीर्वाद रहता है। मुझे चिट्ठी लिखनी तो नहीं आती भैया, तुम्हारी पगली बहन हूँ, ग़लतियों को माफ़ करना। हाँ भैया, रविवार को तुम मांस-मछली मत खाना, तुम्हारी रवि महादशा के लिए मैं उपवास करती हूँ। उस रोज़ तुम्हारे लिए पूरे दिन उपासी रहती हूँ।

...और क्या लिखूँ? तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम। इति, तुम्हारी अभागिन बहन, दमयन्ती।

चिट्ठी उलट-पलटकर मैंने कई मर्तबा पढ़ी। किन्तु चिट्ठी के अन्त में कोई पता नहीं था। वह पता मुझे कभी मिलेगा भी, नहीं जानता।